Quest Journals
Journal of Education, Arts, Law and Multidisplinary
Volume 11 ~ Issue 3 (May. – June. 2021) pp: 14-18
ISSN(Online): 2347-2895
www.questjournals.org

Research Paper

बदलते मंजर के तेवर और कविता

डॉ. पूनम सूद
एसोसिएट प्रोफेसर
श्री वेंकटेश्वर कॉलेज
दिल्ली विश्वविद्यालय

भारतीय संस्कृति पृथ्वी को 'वस्तु" की संज्ञा नहीं देती। भारतीय विश्वास में पृथ्वी माता है, हम उसके पुत्र। ईश्वर का ही अंश है प्रत्येक जीव। यहाँ बीज और वर्षा के जीव और प्रकति के समान तथा ईश्वर और मनुष्य एक साथ मिल कर रहते हैं। यहाँ प्रत्येक जीव को रहने का अधिकार है। वेदों में असहाय प्राणियों, पशुओं, वनस्पतियो की रक्षा को परमधर्म माना गया है।

"पशून पाहि गां मा हिंसी, अजां मा हिंसी ।

अवि मा हिंसी, इंम मा हिंसी द्विपाद पशु ।

"पशओं की रक्षा करो. गाय को मत मारो. बकरी को- ऋग्वेद मत मारो भेड़ को मत मारो दो पैर वाले मनुष्य और पक्षी को मत मारो।"

अथर्ववेद में लिखा गया है कि "मैं तुम से जो खनिज लेता हँ वह पुनः तुममें भर जाए। मैं जो तुम्हें क्षति देता हूँ वह तुम्हारी यादों ओर हृदय तक न पहँचे। भारतीय जीवन-शैली वृक्ष, जानवर, पक्षी और पृथ्वी को नमस्कार करती है। पृथ्वी पर पाद-स्पर्श करने से पहले 'पाद स्पर्शय् क्षमस्वमे' कह कर और पौधों की शाखांए काटने से पहले माफी मांगी जाती है। अथर्ववेद में कहा गया है कि अपनी चेतना का जितना विकास होगा, मनुष्य उतना ही जड़ वस्तुओं से चेतनवत व्यवहार करेगा। भारतीय परम्परा प्रकति के अचरों में भी चेतनता की विद्यमानता मानती है। यहाँ अग्नितत्व, जलतत्व, वायुतत्व सबकी उपासना की जाती थी। नदियाँ विश्व की माता है। वेदों का मानना है कि जो चर और अचर तत्वों में चैतन्य तत्व का दर्शन करेगा वह किसी का भी दमन या अपकार नहीं करेगा। 'वैदिक संस्कति' का झुकाव संतुलित जीवन और प्रकति के साथ सहभाव का रहा है। इसलिए युगों से यह सभ्यता और प्रकति समभाव से एक लय पर संचारित रही है। परंतु जब अहंग्रस्त और आत्मखण्डित यूरोपीय चेतना ने भारतीय समाज में हस्तक्षेप किया तो पूरा परिदृश्य ही बदल गया। "धर्म, संस्कति, परम्परा और प्रकृति की एकतानता में सेंध लगा कर मनुष्य की अधिभौतिक चेतना का वैज्ञानिक चेतना में रूपान्तरण विकास का पर्यायवाची बन गया

इस मनुष्य ने अपनी पूरी बौद्धिकता और वैज्ञानिक चेतना का उपयोग अपनी उन्नति के लिए किया चाहे उसे प्रकृति निचोड़कर नष्ट करना पड़ा और दुनिया की आधी आबादी को पैरों तले कुचलना पड़ा"

बीसवीं शताब्दी में 'विकास' के जिस नारे को बुलंद करने का शुभारंभ हुआ था, इक्कीसवीं शताब्दी के आते-आते उसका अंत मनुष्य अस्तित्व की भीषण आशंका पर आकर प्रशनचिन्ह बन कर रह गया है। शताब्दी की दहलीज पर खड़ा व्यक्ति वैज्ञानिक अविष्कारों के दुरूपयोग, विकास योजनओं की अदूरदर्शिता, पूंजी और अधिकार की केन्द्रीयता, प्रौद्योगिकी का निरन्तर विकास और उपयोग से पददलित पृथ्वी को देख स्वयं को हताश की स्तिथि में खड़ा पा रहा है। संकट यह है कि अब व चाह कर भी पीछे नहीं मुड़ पा रहा। इसी की चिन्ता कि अब जब 'यह' प्रकृति और ईश्वर से अलग होने की विभीषिका से उत्पन्न संकट की स्थिति में खड़ा है तो क्या करे? 'कला, मिथक और यथार्थ' निबन्ध की शुरूआत में ही निर्मल वर्मा गोएथ के शेब्दों से करते है, "we are our own demons we expel ourselves from our paradise" उत्तरआधुनिक युग में प्रकृति की ओर वापसी संभव नहीं है तो भी उसकी स्मृतियों को ताजा कर उसके अनुकूल एक जीवन शैली को अपनाने की अनिवार्यता है।

अब हम न इधर के हैं न उधर के, अपने ही परिवेश को तहस नहस करके अपने आसपास के परिदृश्य को भी छिन्न-भिन्न कर डाला है हमने। प्रभाकर क्षेत्रीय के शब्दों में "उसकी जीवन शैली में सामाजिकता का लोप हो रहा है और स्वार्थ केन्द्रित व्यक्तिवाद पनप रहा है।"

इस शोध पत्र का उद्देश्य पर्यावरण की त्रासद स्थिति का आकलन करना नहीं। यह कार्य तो विश्व भर में समाजशास्त्री पर्यावरणविद्, वैज्ञानिक, संस्थाएँ, सगंठन प्रत्येक स्तर पर परखने और जूझने का ' कार्य कर रही हैं। क्योंकि पृथ्वी किसी की व्यक्तिगत सम्पति न होकर आगामी पीढ़ी को सौंपी जाने वाली वैश्विक धरोहर है जिसे पूरी नैतिकता व जिम्मेदारी के साथ बेहतर न सही विघटित या खण्डित रूप में तो न हस्तांतरित की जाए। साहित्यकार विशेषकर

कवि और वह भी विनाश का भुक्तभोगी युवा कवि अपने अंतस् के उस दर्द की अभिव्यक्ति इस परिवेश के दबाव में आकर कविता के रूप में किस प्रकार व्यक्त कर रहा है यही इस पत्र का उद्देश्य है। क्योंकि साहित्यकार यह जानता है कि "जो सभ्यता प्रकृति पर विजय पाने में ही अपना गौरव प्राप्त करती है वह सुनने, देखने और अनुभूत करने की क्षमता को ही नष्ट कर देती है। उसका सम्बन्ध प्रकृति के प्रति उतना ही आक्रामक है, जितना कलाकृति के प्रति लोलुपता.. कितना अजीब है कि जिस आक्रमक रिश्ते से प्रकृति का प्रदूषण होता है, कला की भाषा का दूषण भी ठीक उसी रास्ते से होता है"

मेरा यह पत्र केवल डस उपरोक्त विचार की संजीदगी का अहसास करवाती कविताओं की ओर इंगित करेगा कि कैसे पहाड़ों, नदियों, पेड़ों को विनाश समाज, परिवार, व्यक्ति के सम्बन्धों के विनाश की एक क्रमिक श्रृंखला का ही अंग है। महानगरीय जीवन की सुखसुविधाओं का भोगी व लोभी आज का आदमी दो विपरीत ध्रवों पर साथ-साथ जीने की चाहत और वह पूरी होने की छटपटाहट की विडम्बना का शिकार है। ग्राम्य जीवन जिसमें उसकी जड़ें थी, परन्त् अब वह पिछड़ेपन की निशानी मान ली गई है: के बीच आधा-अधूरा खोखला जीवन यापन करने को अभिशप्त है। कंकरीट के जंगल में रहने के लिए वास्तविक जंगल खत्म करने के अपराध बोध व दुष्परिणामों के साथ। "आज हम संकट के जिस भयावह दौर से गुजर रहे हैं, वहाँ भावी समाज के समस्त आदर्श थोथे और अर्थहीन होंगे--यदि हम अपने अतीत और वर्तमान को नंगी आँखों से देखने का साहस नहीं बटोर पाते । जिस प्रकार बहती हुई धारा अपने भीतर एक तरफ आदि स्रोत की मौलिक पवित्रता और दूसरी तरफ अपने लक्ष्य की अंतिम परिणति दोनों को करती चलती है, ठीक उसी तरह एक जातीय परम्परा अतीत और भविष्य दोनों को अपनी ' जीवन्त धडकन में पिरोती है।" निर्मल वर्मा की 'अतीत एक मन्थन' निबन्ध से उद्धृत पंक्तियाँ आज प्रकति के दोहन के संदर्भ में भी रख कर देखी जा सकती हैं। यही वह समय है जब अंतर्द्वंद्व की स्तिथि में खड़ा व्यक्ति विकास और विनाश या विनाश की नींव पर खड़ी विकास की इमारत को चौंधियाईं हुई नजरों से निहार रहा है। ग्राम प्रधान व कृषि प्रधान माने जाने वाली विश्व की यह प्राचीन सभ्यता औद्योगिकरण और उससे उत्पन्न नगरीकरण की नाग गुंजलक में दबी तेजी से घुटती जा रही है। 'समार्ट सिटी में शामिल होने की सूची में नामजद होने की कीमत किन सामाजिक, भावनात्मक व परिवेशगत अवमूल्यन में बदलाव हो रहा है इसी सम्बन्ध में कुछ कविताओं के मध्यम से बात की जाएगी। साहित्य व साहित्यकार से यह अपेक्षा रही है कि वह अपने समय में रह कर भी अपने से बाद आने वाले समय की आहट आम आदमी से कहीं पहले सुन लेता है। एक लेखक या कवि अपने परिवेश में घटित घटनाक्रम पर नजर रखता है, परन्तु एक बड़ा लेखक या कवि अपने से 50 वर्ष बाद होने वाली स्तिथियों का आंकलन अपने समय में ही कर लेता है। इस संदर्भ में रविन्द्रनाथ टेगौर ने 'गोरा' में राष्ट्रवाद के खतरे की दस्तक दर्ज कर दी थी। यही बात कवि आज बदलते पर्यावरण जिसमें उसने पहाड़ों के क्षरण, नदियों के मरण और समाज, परिवार सम्बन्धों की दरकन के साथ मूल रूप से पेड़ों के बढ़ते कत्ल की ओर इशारा किया है। इन सबके जाने से क्या-क्या चला' जाएगा जीवन से इसका अनमान लगाने की युवा कवि चेष्टा कर रहा है। और क्या जा चुका है उसका दर्द भी व्यक्त कर रहा है। परंतु यह परिरिथति आई क्यूं? मन्ष्य सुविधा भोगी स्वभाव का है, यह सुविधाएँ किसी भी कीमत पर ही क्यों न हो बस उसे प्राप्त करनी ही है। महानगरों में बसने की बढ़ती प्रवृति, सब कुछ तुरत-फुरत पाने का लोभ व स्वयं को प्रगतिशील दिखाने को झूठा दंभ इन सब के साथ-साथ आर्थिक मजबूरियाँ उसे शहर ले आई। पीछे छूट गए गांवों में रह गए बूढ़े मां-बाप, भाई-बहन, पेड़" पक्षी, तालाब, साफ हवा, खुला आंगन और उसकी अपनी जड़ें । जड़विहीन, लुंज-पुंज सा वह अब अपने ही घर जो उसका अपार्टमेंट है में कैद हो कर कैसे छटपटाता है मनोज कमार झा की कविता सीमाएँ में स्पष्ट हैं-

"घर भी अजीब जगह रै- पूरी हवा न पूरी धप न पूरा अंधेरा न पूरा उजास

यह जो फूलदान है बाहर की सुगंधों के लिए बाधा है

यह जो रोशनी है घर की वह बाधा है बाहर से आ रहे प्रकाशपुंज के लिए

घर एक अजीब सीमा है जहाँ खडा हो समय फेंकता है सीमाओं का जाल"

घर की इस स्थिति तक पहँचने से पहले उस परिवेश को समझने की कोशिश की जानी चाहिए कि उसने अपने आस पास ऐसा क्या रचा कि वह 'सीमाओं" में बंधा छटपटा रहा है। अपने गढ़े इस वातावरण में रहने की अभिशप्ति स्वयं की उत्पन्न की स्तिथियों की प्रतिझलक है। आज की महानगरीय सभ्यता के विकास ने हमें प्रकृति से तो दूर कर ही दिया पर हम बीच की स्तिथि में फंसे हुए प्रकृति को अपने कमरों में आबद्ध करने पर तुले हुए हैं। समष्टि को व्यष्टि में बांधने से उत्पन्न छटपटाहट से कराह रहा है। "आज का आदमी इस भयावह स्थिति के प्रति जनमानस को सचेत करने में लिए कोटा के एक वैज्ञानिक तथा कलाकार ने कविताओं के माध्यम से एक अभियान छेड़ा है। अड़तालीस कविताओं के सकंलन का नामकरण अंतिम कविता 'चेतना के स्वर' पर आधारित है। उनके संग्रह की पहली कविता 'आज का वामन' आधुनिकता के मोह पर एक करारा व्यंग्य प्रस्तुत करती है-

"स्वयं को विराट जाना/ प्रकृति को तुच्छ माना,/ घने-घने वक्षों को पहनाया बौनों का बाना,/ प्रकृति के संसर्ग में था विशाल मानवमन/ किया बौना प्रकृति को स्वयं हुआ वामन..

-इको फमनिज्म-'केवनजा'

यदि जंगलों से बात शुरू की जाए तो 'चिपकों आन्दोलन' जो इस संदर्भ में सबसे बड़ा आन्दोलन था. कितनी सहज व साधारण भाषा में अपना मूल मंत्र रख रहा था समाज के समक्ष 'सुन्दर लाल बहुगुणा के शब्दों में-

'ठक्या है जंगल के उपकार? मिट्टी, पानी और बयार

मिट्टी पानी और बयार, जिंदा रहने के आधार।

- धरती की पुकार

इस शोध पत्र का उद्देश्य पर्यावरण जैसे विस्तत मुदे को चंद पन्नों पर समेट कर रखने का दुस्साहस करना नहीं हैं। विश्व साहित्य व हिन्दी साहित्य का अथाव मन इस चिंता पर चिंतन करता आया है और करता रहेगा बड़े साहित्यकारों या कहूँ स्थापित साहित्यकार आधुनिक काल के प्रत्येक युगचरण या वादों में प्रकृति के प्रत्येक रूप, विद्यटन का लाक्षणिक व मार्मिक चित्रण महाकाव्यत्मकता में करते आये हैं। यहाँ पिछले दशक की कछ प्रमुख पत्र पत्रिकाओं में छपी कविताएं जो अपने समय की गहरी अनुगूंज हैं, जो परिस्थिति के दबाव से सद्यप्रसूत हो उठती हैं, जिनमें एक तीखी बैचेनी और असहायता का भाव है और जो अपने दौर का सबसे बड़ा सच है, चंद कविताओं के माध्यम से व्यक्ति मन की छटपटाहट द्वन्द और दर्द की व्यंजना है। ऐसी नयी कविताओं से 'बदलते मंजर के तेवर' की दृश्यावली उपस्थित करना है।

कविता की मुख्य प्रवृति ही सम्प्रषणीयता है। एक मन के दूसरे मन से जुड़ने के क्रम में कविता का जन्म होता है। चूंकि कविता युग की मांग के अनुरूप अपना स्वरूप तय करती है और आज का समय विमर्शों का समय हैं स्री दलित और आदिवासी विमर्श के साथ जिसका आत्मा का सम्बन्ध,. बहनापे का सम्बन्ध या सम्वेदना के धरातल पर जिसका सबसे करीबी एक ही दुःख से पीड़ित होने का रिश्ता है वह है 'प्रकृति' का, समान रूप से पीड़ित। यहाँ सभी उसके दुःख से अपने दुःख से भी ज्यादा द्रवित हैं। इसी संदर्भ में अनामिका का, बेहत सुन्दर कविताओं की रचयिता निर्मला पुतुल, प्रो. भूप सिंह, कात्यायनी इत्यादि रचनाओं की मार्मिक संवेदना स्पष्ट करती है कि 'घायल की गति घायल जाने। गांधीवाद 'का दोहन के प्रति विरोध 'हिन्द स्वराज' में रेल को सभ्यता का तीसरा दुश्मन मानना इसलिए है कि एक झटके से स्रोत, का खनन करके ले जाती है। यदि 'रेल' न होती तो इतनी तेजी से प्राकृतिक खजाने नष्ट न होते। शिमला का ही लोकगीत में स्री का दर्द-फिरंगी "ऐसा कहर मचाया, रेल शिमला तक ले आया।"

मनुष्य का जीवन मृत्यु के आखिरी क्षण तक एक छोटी सी आशा पर भी टिका रहता है। The Last Leaf की आशा भी जब छिन जाए तो क्या किया जाए। "टोकरी में दिगन्त में" आज की कवयित्री अनामिका जी जब लिखती हैं-

आज जब धरती का माथा गरम है,/ जल स्रोतों की पट्टी पूरी ' नहीं पड़ती

निष्पत्र पेड़ हो गए हैं थर्मामीटर

याद आ रही है वो छोटी लड़की।/ ओ हेनरी की कहानी/ 'द लास्ट लीफ' की/ प्लास्टिक की एक पत्ती / डोल रही है हवा में / अन्तिम सांसे गिन रही आस को देती दिलासा / झूठी-सच्ची

पेड़

मैं जरा देर से दुनिया में पहुंचा / तब तक पूरी दुनिया/ सभ्य हो चुकी थी सारे जंगल काटे जा चुके थे/ सारे जानवर मारे जो चुके थे।

वर्षा थम चुकी थी/ और आग के गोले की तरह / तप रही थी पृथ्वी/ चारों तरफ लोहे और " कंकरीट के / बड़े-बड़े जंगल उंग आए थे/ जिसमें दिखाई दे रहे थे/ अत्यंत विकसित तरीकों से । आदमी का शिकार करते आदमी

-कुँवर नारायण

प्रेम शंकर रघुवंशी की कविता-

सूखते जा रहे झरने / और उजड़ते जा रहे पहाड़ / उजाड़ पहाड़ों का,/देखती रात दिन / विलाप में लीन नदी

अनिल त्रिपाठी की कविता –

"वह दिन दूर नहीं जब/ तुम्हें पड़ेगा प्राणवायु का टोटा / और तुम किसी बोतल में/ खरीदोगे उसे आज के पानी की तरह/ तब समझ में आएगा/ उनके विस्थापन का दर्द"

दलित विर्मश और प्रकृति के प्रति संवेदना का भाव-

जंगल कविता में डॉ. भूपसिंह दलित के जीवन की समानता एक फलहीन जंगल के समकक्ष रख मनुष्य और प्रकृति दोनों के दलन ओर दोहन का मर्मस्पर्शी चित्रण करते हैं। दोनों की अस्मिता का कोई महत्व नहीं। उसको निर्दयता से काट दिया जाता है। एक रूपक के माध्यम से दोनों के दर्द को एक ही धरातल पर प्रस्तुत किया है। चंद पंक्तियां है-

"जंगल सिर्फ जंगल ही रहा/ आदमी/ उसे लगा कि एक जंगल / उसके भीतर बढ़ता जा रहा है / उसे लगा न कोई फूल/न पत्ती/ न शाख/ फलहीन जंगल / आदमी के सुनहरे / सपनों पर छाने लगा/ और तब कुछ / आदमियों ने पशुओं की तरह अपनी कुल्हाड़ी उठाई / और हरेक ने यह कसम खाई कि/ मैं इस जंगल' को मिटाकर ही रहूंगा/ और तब से है आज तक/ आदमी जगल काट रहा / एक शाख कटती है / हजारों / टहनियाँ निकल आती है./ नहीं

एकान्त श्रीवास्तव

"तुम इसे विकास कहते हो/ कि इक्कीसवीं सदी में / पहुँच चुकी सभ्यता / और मनुष्य चाँद पर/ कोई नहीं जानता / कि अभी कितना रक्त और / पियेगी यह "भूख' / मझे भूख से बहत डर लगता है।"

जहा तक 'आदिवासी स्त्रियाँ अपनी इस मां, बहन रूपी प्रकृति का दर्द आत्मसात करती है प्रकृतस्थ हो कर, अलग हो कर नही'।

"पूरी तरह वे करती प्रेम जंगलो से नदियों से पहाड़ों से / मिट्टी से, गीतों से, फसलों से / उनके नाते-रिश्ते की परिधि में आते / गाय, बकरी और सूअर भी/घर की परिधि से बाहर भी। दूर क्षितिज तक फैली होती। उनकी दुनिया। जहाँ होता पहाड़ सा दु:ख पहाड़ सा धीरज / जंगल की सी वीरनीयाँ।"

अपने घर की तलाश में

निर्मला पुतुल

इसलिए तो संथाल जाति की अस्मिता, जो उनके परिवेश से जुड़ी , उनके खतरे से चिंतित है-

"संथाल परगना। अब नहीं रह गया संथाल परगना। सब कुछ गुड्डयड्ड हो गया है इन दिनों यहाँ / उखड़ गए हैं बडे-बड़े पेड़ / और कंकरीट के पसरते जंगल में / खो गई है इसकी पहचान"

नगाड़े

निर्मला पुतुल, पृष्ट 24

निर्मला पुतुल की कविताएँ जिनके लिए अरूण कमल जी कहते है, "ये कविताएँ स्वाधीनता के बाद हमारे राष्ट्रीय विकास के चरित्र पर प्रश्न करती हैं। सभ्यता के विकास और प्रगति के बाद की अवधारणा को चूनौती देती ये कविताएँ एक अर्थ गें सामाजिक-सांस्कृतिक श्वेत-पत्र भी हैं-

बूढ़ी पृथ्वी का दु:ख

क्या तुमने सुना है। सपनों में चमकती कल्हाड़ियों के भय से/ पेड़ों की चीत्कार? / कुल्हाड़ियों के वार सहते / किसी पेड़ की हिलती टहनियों में / दिखाई पड़ें हैं तुम्हें। बचाव के लिए पुकारते हजारों-हजार हाथ?/ क्या होती है तुम्हारे भीतर धमस/ कटकर गिरता 'है जब कोई पेड़ धरती पर?/ सुना है कभी/ रात के सन्नाटे में अंधेरे से मुहँ ढँप/ किस कदर रोती हैं नदियां ?"

अपनी द्सरी कविता 'बिटिया मर्म के लिए में आदिवासी कवयित्री निर्मला पुतुल जो पर्यावरण के प्रति अत्यंत संवेदनशील हैं और संथाल जाति के प्रति भी-

'देखो अपनी बस्ती के सीमान्त पर / जहाँ धराशायी हो रहे हैं पेड़/कुल्हाडियों के सामने असहाय रोज नंगी होती बस्तियां,/ एक रोज मांगेगी तुमसे तुम्हारी खामोशी का जवाब"

इसी मनोदशा को व्यक्त करती राजेन्द्र नागदेव की कविता 'हंस' में प्रकाशित हुई-

'बाहर अन्दर खिडकी से झांकते हुए'

मैं बाहर एक दूसरी का पीछा करती/ गिलहरियां देखता हूँ/ तड़ित गति चढ़ने उतरने पर विस्मित हूँ/ कल वृक्षों का टुकडों में कहा शरीर गाड़ियों पर चढ़ेगा/ चला जाएगा दूर किसी मशीन के अन्दर/ कल के बाद किसके कंधो पर दौड़ेंगी गिलहरियां/ यह प्रश्न पूरी धरती जितना बढ़ा है/ गिलहरी बराबर छोटा नहीं

आज देश की महान विशाल नदियां, संस्कृतियों की शरणस्थली नदियाँ, 80 प्रतिशत केवल वर्षा के दिनों मे चलती हैं बाकी समय क्रिकेट के मैदान या भव्य समारोह मनाने का स्थान बन जाती हैं। आजादी के 70 वर्षों में 60 प्रतिशत पानी हम पी चुके है और उन्हें साबुन की झाग या बड़े सीवरेज में बदल चके है। सुप्रसिद्ध कवयित्री अनामिका यदि अपनी कविता 'नमस्कार दो हजार चौंसठ' में उनका स्वास्थ्य जानना चाह रही हैं तो उनकी चिंता स्वाभाविक ही बनती है-

"नमस्कार, दो हजार चौंसठ / नमस्कार, दो हजार चौसठ!/ नमस्कार, पानी कैसे हो? इन दिनों कहाँ हो? नमस्कार, पीपल' के पत्तों / तुमको बरफ की शक्ल याद है न?/ नमरकार, नदियों! दुबली कितनी हो गई हो/ आँखों के नीचे पसर आए हैं साये?/ क्या स्वास्थ्य अच्छा नहीं रहता? / स्वास्थ्य केन्द्र चल तो रहा है?"

जर्मनी प्रसिद्ध जीव रसायन शास्त्री डॉ. फ्रेडिक वेक्टर ने अपने पर्यावरण सम्बन्धी विशेष चिन्तन से विशेषज्ञों के सामने जो सुझाव रखा उसमें प्रकृति में व्याप्त सार्वभौमिक एकत्व को विश्वसनीय ढंग से दर्शाने को प्रयत्न किया है। उनका एक प्रश्न है-

"क्यों न हम उस महान उद्योग से सबक ले जो चालीस लाख वर्षों से सुचारू रूप से चल रहा है। जिसको दिवालियापन की स्थिति छू तक नहीं सकी है। इस उद्योग से उनका तात्पर्य पृथ्वी समुद्र और वायुमंडल से है । उसके अनुसार पथ्वी की एक आदर्श तकनीकी और प्रबन्ध कौशल व्यवस्था है जो एक कार्य कुशल वृहद उद्यम का अनुकरणीय मॉडल प्रस्तुत करती है।"

-पर्यावरण, आज धरती रोती है

राजेश्वरी प्रसाद चन्दोला

निर्मल वर्मा के पास मुझे बार-बार लौटना ही पड़ता है यह मेरी व्यक्तिंगत कमजोरी या उनकी समर्थतता है। समस्या का समाधान प्रस्तुत करते हुए 'कला का जोखिम निबंध में वह जब वह लिखते है,-- "यथार्थ अध्यात्मक प्रकृति में है। इसे हम 'हरित अध्यात्म' कह सकते है।" प्रकृति तथा मन्ष्य के बीच का अंतर कम कर ही हम इस 'हरित अध्यात्म' को जगा सकते हैं। "एक बार फिर बोधवृक्ष के फल को चखना पड़ेगा ताकि हम पुनः अपनी निर्बोध अवस्था में पहुँच सकें।"

संदर्भ सूची :-

1. अनामिका 'टोकरी में दिगन्त" पृ.17
2. के, वनजा - इको फैमनिज्म
3. निर्मल वर्मा, कला का जोखिम
4. निर्मला पुतुल – नगाड़े की तरह बजते हुए, अपने घर की तलाश में
5. मनोज कुमार झा- सीमाएं तद्भव अक्तूबर 2015 पृ. 52
6. मदन कश्यप - एक अधुरी प्रेम कविता तद्भव पृ. 41
7. राजेन्द्र कमार – बोली चिड़िया का कथाक्रम अप्रैल, 2005
8. मनोज कमार – सूखा
9. सुधांशु उपाध्याय - प्यार लिख रहे है, समकालीन साहित्य पत्रिका सितम्बर, 2005
10. वर्तिका नन्दा – झोंका जो आया अतीत की खिड़की से हंस अगस्त, 2010
11. मिलिंद कश्यप - घोंसला सितम्बर, 2011 कथा देश